पीयर-रिव्यूड जर्नल
जर्नल वेबसाइटः
https://anubodhan.org

अनुबोधन, खण्ड 2, अंक 3, जुलाई–सितम्बर 2026, पृष्ठ 177–184
ISSN: 3049-4184 (प्रिन्ट) 3108-1185 (ऑनलाइन)
https://doi.org/10.65885/anubodhan.v2n3.2026.110

जयशंकर प्रसाद का नाट्य-दर्शन और छायावादी सौन्दर्य-चेतना

मलय गोप [1], प्रो० रवि रंजन कुमार [2]

प्राप्तिः 13 सितम्बर 2026 / संशोधित: 15 सितम्बर 2026 / स्वीकृतः 19 सितम्बर 2026 / प्रकाशित ऑनलाइन: 21 सितम्बर 2026
Copyright © 2026 Author(s). Published by Siri Research Foundation. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution International License (CC BY 4.0).

सारांश

प्रस्तुत शोध आलेख में जयशंकर प्रसाद के नाट्य-दर्शन और उनकी छायावादी सौन्दर्य-चेतना का समग्र विवेचन किया गया है। प्रसाद ने हिंदी नाटक को पारसी रंगमंच की मनोरंजन प्रधान परंपरा से आगे ले जाकर इतिहास, संस्कृति, राष्ट्रीय चेतना, दर्शन और काव्यात्मकता से समृद्ध किया। प्रस्तुत अध्ययन में 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'विशाख', 'कामना', 'एक घूँट' तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि नाटकों के आधार पर प्रसाद की नाट्य-दृष्टि का विश्लेषण किया गया है। उनके नाट्य-साहित्य में काव्यात्मक भाषा, गद्य-गीत शैली, भावात्मक संवाद, प्रतीकात्मक चरित्र-योजना और स्वच्छंद नाट्य-शिल्प प्रमुख विशेषताओं के रूप में उभरते हैं। प्रसाद का नाट्य-दर्शन बुद्ध की करुणा, शैवागम, निष्काम कर्म, मानवतावाद, प्रेम, अहिंसा और जीवन-संतुलन जैसे मूल्यों पर आधारित है। उनकी छायावादी सौन्दर्य-चेतना बाह्य सौन्दर्य के बजाय अंतर्मन की वेदना, स्वानुभूति, प्रकृति, प्रेम और आध्यात्मिक संवेदना को महत्त्व देती है। वे यथार्थवाद और आदर्शवाद के बीच समन्वय स्थापित करते हुए साहित्य को सामाजिक चेतना और मानवीय मुक्ति का माध्यम मानते हैं। इस प्रकार प्रसाद का नाट्य-साहित्य परंपरा और प्रयोग, इतिहास और वर्तमान, काव्य और रंगमंच तथा व्यक्ति और समाज के मध्य रचनात्मक संवाद स्थापित करता है।

बीज शब्द: नाट्य-दर्शन; सौन्दर्य-चेतना; काव्यात्मकता; स्वच्छंद नाट्य-शैली; मानवतावाद; करुणा; गद्य-गीत; रंग-दृष्टि।

हिंदी साहित्य के इतिहास में जयशंकर प्रसाद का नाम केवल एक कवि के रूप में नहीं, बल्कि एक अत्यंत सशक्त नाटककार के रूप में भी आदर के साथ लिया जाता है। वे छायावाद के प्रमुख स्तंभों में से एक थे, किंतु उनका रचनात्मक व्यक्तित्व केवल काव्य तक सीमित नहीं रहा। उनकी प्रतिभा ने गद्य, पद्य, उपन्यास, कहानी और विशेषतः नाटक – सभी क्षेत्रों में अपनी मौलिक छाप छोड़ी। प्रसाद का नाट्य-जीवन हिंदी नाट्य-साहित्य के विकास में एक निर्णायक मोड़ है, क्योंकि उन्होंने नाटक को ऐतिहासिक चेतना, सांस्कृतिक गौरव, दार्शनिक गहराई और काव्यात्मक भाषा से समृद्ध किया। यों तो – "प्रसाद, स्वयं एक युग थे। उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रान्ति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष के नाटकों को भूल गए।"[1] प्रसाद के नाट्य-साहित्य का अध्ययन केवल

1 शोधार्थी, हिन्दी विभाग, नागालैंड विश्वविद्यालय, कोहिमा, नागालैंड
✉ मलय गोप, E-mail: malaygope1995@gmail.com
2 प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, नागालैंड विश्वविद्यालय, कोहिमा, नागालैंड

साहित्यिक रुचि का विषय नहीं है, बल्कि वह भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण, राष्ट्रीय चेतना और आधुनिक हिंदी रंग-परंपरा की समझ के लिए भी आवश्यक है। प्रसाद ने ऐसे समय में नाटक लिखे जब हिंदी रंगमंच पूर्ण परिपक्वता की अवस्था में नहीं था और ***'पारसी थियेटर'*** जैसी लोकप्रिय परंपराओं का प्रभाव अधिक था। "पारसी थियेटर से पूर्व बम्बई (अब मुम्बई) में ***'बम्बई थियेटर'*** के नाम से एक थियेटर के अस्तित्व का प्रमाण सन् 1776 ई. में प्राप्त होता है।"[2] ऐसे वातावरण में प्रसाद ने नाटक को कला, विचार और इतिहास की ऊँचाइयों तक पहुँचाने का प्रयास किया।

प्रसाद के नाट्य-जीवन की जड़ें उनके साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्कारों में थीं। संस्कृत नाटक, भारतीय इतिहास, पुराण-कथा और काव्य-परंपरा का उनके ऊपर गहरा प्रभाव था। हिंदी नाटक के क्षेत्र में वे उन लेखकों में हैं जिन्होंने नाटक को केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना के संप्रेषण का माध्यम माना। चूँकि ***'पारसी थियेटर'*** उनके समय का सबसे ज्वलंत प्रश्न था जो बाद में भी रहा। इसको लेकर हिन्दी नाटककार सदा आशंकित रहते थे। इस विवाद का यह दुष्परिणाम निकला कि रंगमंच के प्रति पूर्वाग्रह का भाव बढ़ने लगा। इस पृष्ठभूमि में प्रसाद ने नाट्य-जगत में पदार्पण किया। 'सज्जन' (1910), 'प्रायश्चित' (1912), 'कल्याणी परिणय' (1912), 'करुणालय' (1913) में प्रकाशित हुए। इनमें 'कल्याणी परिणय' काशी से प्रकाशित होने वाली 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (1912) में और शेष तीनों नाटक 'इन्दु' में प्रकाशित हुए। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि 1909 में प्रसाद ने 'इन्दु' में 'सम्राट चंद्रगुप्त' नामक शोधपरक निबन्ध लिखा। यही निबन्ध कुछ संशोधन के बाद 'चंद्रगुप्त' नाटक (1931) की भूमिका बना। ग़ौरतलब है कि 'कल्याणी परिणय' नाटक के आलेख को अपेक्षित संशोधन के साथ 'चंद्रगुप्त' नाटक के चौथे अंक के रूप में रखा गया। साथ ही, इसके तीन गीत थोड़े सुधार के बाद 'चंद्रगुप्त' नाटक में अपना लिए गए। 'राज्यश्री' (1915) प्रसाद का पहला पूर्ण ऐतिहासिक नाटक है। इसके पश्चात् 'विशाख' (1921), 'अजातशत्रु' (1922), 'कामना' (1927), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (1926) 'स्कंदगुप्त' (1928), 'एक घूँट' (1930-हिन्दी का पहला एकांकी), 'चन्द्रगुप्त' (1931), 'ध्रुवस्वामिनी' (1933) का प्रकाशन हुआ।

बहरहाल, प्रसाद के समय हिंदी नाटक में कई समस्याएँ थीं। एक ओर भाषा और शिल्प की उपयुक्त परंपरा का निर्माण नहीं हुआ था, दूसरी ओर मंचन और अभिनय की भी समुचित व्यवस्था नहीं थी। पारसी थिएटर की लोकप्रियता ने नाटकीयता को प्रभावित किया था, किंतु उसमें साहित्यिक गहराई और कलात्मक संतुलन प्रायः कम था। प्रसाद ने इस स्थिति को समझा और एक ऐसी नाट्य-परंपरा विकसित करने का प्रयास किया, जिसमें भारतीयता, इतिहास और काव्यात्मकता का सुंदर समन्वय हो। उन्होंने 'रंगमंच' शीर्षक निबंध में लिखा भी है – "रंगमंच की वाध्य-वाधकता का जब हम विचार करते हैं तो उस के इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जायगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है। क्योंकि रसानुभूति के अनंत प्रकार नियमबद्ध उपायों से नहीं प्रदर्शित किये जा सकते और रंगमंच ने सुविधानुसार काव्यों के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप-परिवर्तन किया है।"[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद जी काव्यात्मकता को रंगमंचीय सफलता के लिए अत्यंत जरूरी समझते थे। यह अकारण नहीं कि उनके नाटकों में काव्य और काव्य में नाटक के दर्शन होते हैं। कालांतर में गीतिनाट्य के विकास को प्रसाद के नाटकों में काव्यात्मक शैली के विधान से उद्भूत देखा जा सकता है।

प्रसाद जी के नाटकों में इसी काव्यात्मकता को चिह्नित करते हुए प्रसाद साहित्य के गंभीर अध्येता आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है – "प्रसादजी के नाटकों की काव्यात्मकता भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है। शैली और वस्तु दोनों में प्रसादजी के नाटकों में काव्यत्व दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली काव्यात्मक है और पात्रों द्वारा कथित संवादों में भी काव्य की प्रमुखता है। उनमें काव्य-भावना की विशेषता है। किसी कथन को सीधे तरह और निरलंकार रूप में कहने की शैली को प्रसादजी ने नहीं अपनाया। उनके नाटकों में काव्यात्मक वातावरण की पूरी मात्रा रहती है। वर्तमान नाट्य-शैली के अनुसार नाटकों में अधिक-से-अधिक यथार्थवादिता आवश्यक समझी जाती है। भाषा का स्वरूप भी सामान्य बोल-चाल का आभास देने वाला रहा करता है। प्रसादजी ने अपने नाटकों को यथार्थवादी भूमि पर नहीं रक्खा, उनकी शैली में

चमत्कार तथा काव्यात्मकता है। शैली की विशेषता के साथ ही प्रसादजी के संवाद भी भावात्मक हैं, बौद्धिक नहीं; उनमें कोरी बौद्धिकता, सम्भाषण-पटुता या उक्ति-वैचित्र्य नहीं है। इस दृष्टि से यद्यपि उन्होंने अपने नाटकों का माध्यम गद्य ही रक्खा है; परंतु वह गद्य कवित्व के अधिक समीप है। पाश्चात्य नाटकों में पद्य दुःखान्त सृष्टियों के लिए उपयोगी माना गया है; परन्तु प्रसादजी ने अपने सुखान्त नाटकों में भी इसी पद्धति को अपनाया है। यह प्रसादजी की अपनी विशेषता है।"[4] बेशक़, पश्चिमी परम्परा में पद्य मुख्यतः दुःखान्त रचनाओं के लिए उपयुक्त माना जाता था, किन्तु प्रसाद ने सुखान्त नाटकों में भी इसी काव्यात्मक पद्धति का प्रयोग किया – यह उनकी अपनी विशिष्टता है। वाजपेयी जी ने सही ही उनकी शैली को समकालीन यथार्थवादी प्रवृत्तियों से अलग पहचाना है, जो उनकी मौलिकता को रेखांकित करता है, बिना अतिरंजना या व्यक्तिपरक प्रशंसा के। उन्होंने यह भी स्पष्ट शब्दों में लिखा कि, "प्रसाद के नाटक शास्त्रीय नहीं हैं। वे एक नवीन नाट्य-शैली का प्रार्दुभाव करते हैं, जिसे 'स्वच्छंद नाट्य-शैली' कहा जा सकता है।"[5] पश्चिमी साहित्य-परम्परा में जहाँ पद्य को प्रायः दुःखान्त के साथ जोड़ा गया, प्रसाद ने उसे सुखान्त नाटकों में भी सहजतापूर्वक प्रयोग कर एक नया नाट्यभाषा-संस्कार रचा। यह उनकी मौलिकता तथा पारंपरिक नियमों से मुक्त स्वभाव का संकेत है। वाजपेयी जी द्वारा उल्लिखित ***'स्वच्छंद नाट्य-शैली'*** का अर्थ यही है कि प्रसाद ने नाट्य-कला को नियमों के सांचे में बाँधने की बजाय काल्पनिकता, काव्यात्मक विमर्श और भावात्मक गहनता को प्राथमिकता दी। इसलिए उनका नाट्य-दर्शन परम्परा और प्रयोग का समन्वय है जो मानवीय सत्य की गूढ़ अनुभूति प्रस्तुत करता है। चरित्रों में संघर्ष और मनोभावों में रस उनकी इस समन्वय दृष्टि का ही परिणाम है। जीवन समस्याओं का यह संघर्ष इतिहास की मान्यताओं की सीमा में घटित हुआ है। इन नाट्य-शिल्पों की मौलिक उद्भावनाओं के आधार पर हिन्दी नाटक साहित्य में 'प्रसाद-संस्थान' और ***'प्रसाद-स्कूल'*** का प्रचलन हुआ।

बहरहाल, प्रसाद का नाट्य-चिन्तन भी, नाटकों में सृजित कथोपकथन और रूप-विधान अत्यंत मनोहर और कवित्वपूर्ण होती हैं। दरअसल उनके ऊपर यह छायावादी प्रभाव तो था ही, उन्होंने संस्कृत नाटक और प्राचीन भारतीय काव्य-परंपरा को भी अपने नाट्य-लेखन का आधार बनाया। छायावाद हिन्दी काव्य-परंपरा के उस युग के रूप में देखा जाता है जिसने खड़ीबोली को कामनीय माधुर्य, सूक्ष्म भावुकता और सांस्कृतिक चेतना से संपन्न किया। जयशंकर प्रसाद इस धारा के न केवल प्रवर्तक हैं, बल्कि उसके मूल स्वर को परिभाषित करने वाले चिंतक भी। वे यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों से अलग एक 'मनुष्य-केंद्रित' काव्य-मीमांसा प्रस्तुत करते हैं, जहाँ वेदना और स्वानुभूति के आधार पर छायावाद का जन्म हुआ माना जाता है। प्रसाद के अनुसार, "पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।"[6] यह दृष्टि उनके नाटकों में भी स्पष्टतः आता है। उनके नाट्य-पात्र केवल बाहरी संघर्ष में नहीं जीते, बल्कि आत्म-साक्षात्कार और आध्यात्मिक उन्मेष की आंतरिक यात्रा करते हैं।

प्रसाद का नाट्य-दर्शन आध्यात्मिक, राजनीतिक और मानवतावादी विचारधाराओं पर टिका है। वे बुद्ध की करुणा और शैवागम से गहराई से प्रभावित रहे। अहिंसा, दया, समरसता और निष्काम कर्म जैसे मूल्य उनके नाट्य-संसार की रीढ़ हैं। ***'स्कंदगुप्त'*** नाटक इसी दर्शन पर आधारित है, जहाँ नायक का सारा प्रयोजन अपने कर्तव्य का पालन और निष्काम भाव से मानव-पथ पर चलना है। भारतीय संस्कृति में कर्म और पुरुषार्थ के महत्व पर बल दिया गया है, प्रसाद के नाट्यों में इसी कर्म-बल का चित्रण मिलता है। दूसरी तरफ यदि हम उनके 'इतिहास-दर्शन' की ओर मुड़कर देखते हैं तो उसका आशय उनका "अतीत का मोह नहीं है और न ही आर्यत्व सिद्धांत की श्रेष्ठता की स्थापना का प्रयास। बल्कि यह तो पूरे-के-पूरे अंतरंग स्तर पर उस इतिहास दर्शन से साक्षात्कार है जो किसी भी जाति को विपत्ति के समय प्रेरणा देता है। क्योंकि इतिहास में भी मानव चित्तवृत्तियों के संश्लेषण की संवेदना सक्रिय रहती है और इस संवेदना को समझने से एक महत्त्वपूर्ण भाव-दर्शन मानव को प्राप्त होता है।"[7] कहना न होगा कि प्रसाद के 'इतिहास-दर्शन' में अतीत केवल स्मृति का आश्रय नहीं, बल्कि वर्तमान के संकटों का समाधान प्रस्तुत करने वाली जीवन्त शक्ति के रूप में प्रकट होता है। प्रसाद इस प्रक्रिया के द्वारा यह स्थापित करते हैं कि इतिहास की संवेदना को आत्मसात करने से ही कोई जाति विपत्ति के क्षणों में आत्मविश्वास और क्रियात्मक प्रेरणा प्राप्त कर सकती है, अतः उनका 'अतीत-दर्शन' न तो 'पुराण-प्रेम' है और

न ही किसी जातीय श्रेष्ठता का आग्रह, बल्कि एक गहरी दार्शनिक अंतर्दृष्टि है जो मानव-चेतना को कर्म और इतिहास के द्वंद्वात्मक सम्बन्ध से जोड़ती है।

प्रसाद ने कुल तेरह नाटकों की रचना की। इस विस्तृत नाट्य-यात्रा को तीन कालखंडों में देखा जा सकता है: प्रारंभिक, मध्यवर्ती और परिपक्व। प्रारंभिक रचनाओं में भावनाओं का प्राकृतिक प्रवाह, मध्यवर्ती में साहित्यिक प्रयोगों और नवाचार की झलक तथा अंतिम में दार्शनिक प्रश्नों, सामाजिक संघर्ष और अध्यात्मिकता का उद्घाटन मिलता है। लेकिन उनका 'भाव-दर्शन' और 'आध्यात्मिकता' का आदर्श धर्म के महिमामंडन में कहीं से नहीं दिखता। डॉ. रामविलास शर्मा ने बहुत सही लिखा है कि, "अध्यात्मवादी लेखक भौतिकवादियों पर यह दोष लगाते हैं कि वे जड़ प्रकृति में विश्वास करते हैं, इसलिए उनका दर्शन एकांगी है। वास्तव में एकांगी दर्शन अध्यात्मवादियों का है जो जड़ और चेतन का नकली भेद करते हैं। भूत से परे चेतना की सत्ता नहीं है, चेतना भूत का ही गुण है। इसलिए भूत की सत्ता मानने का अर्थ चेतना को अस्वीकार करना नहीं होता। प्रसादजी अद्वैतवादी हैं लेकिन वेदान्ती नहीं। उनका अद्वैतवाद जड़ और चेतन के द्वैत को अस्वीकार करता है, प्रकृति को माया कहकर या शून्य को सत्य मानकर वह यथार्थ जीवन को अस्वीकार नहीं करते।"[8] बेशक़, यहाँ डॉ. रामविलास शर्मा उनके दर्शन को वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि से देखते हैं जो हिन्दी आलोचना में एक निर्णायक हस्तक्षेप है। वे यह दिखलाते हैं कि बड़े कवि-नाटककार का दर्शन अक्सर जीवन्त होता है। आगे डॉ. शर्मा लिखते हैं, "***'स्कन्दगुप्त'*** में प्रसादजी ने दिखाया है कि हूणों के आक्रमण से त्रस्त और बिखरी हुई जनता में फिर से साहस-संचार करके स्कन्दगुप्त और उसके साथियों ने हूणों को समरभूमि में पराजित किया और उन्हें सिन्धु पार खदेड़ दिया। ब्रिटिश साम्राज्य से आक्रान्त देश में यह नाटक लिखकर प्रसादजी ने सामयिक राजनीति की भी एक गुत्थी सुलझायी थी।"[9] नाटक की यह घटना महज ऐतिहासिक कथा नहीं, बल्कि जन-शक्ति के संगठन और सामूहिक प्रतिरोध की प्रक्रिया का चित्रण है। यहाँ स्कन्दगुप्त अकेला नायक नहीं, बल्कि बिखरी जनता को संगठित करने वाला माध्यम है। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से कहा कि विदेशी आक्रान्ताओं को केवल व्यक्तिगत वीरता से नहीं, बल्कि जनता में साहस भरकर और उसे संगठित करके ही हराया जा सकता है। प्रसाद जी का मानना था कि कलाकार का काम केवल सौंदर्य रचना नहीं, बल्कि अपने युग की राजनीतिक-सामाजिक समस्या का रचनात्मक हल प्रस्तुत करना भी है। इसी ओर इशारा करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है, "प्रसादजी के लिए कलाकार सामाजिक संघर्ष में तटस्थ नहीं रहता। वह जनता और देश के प्रति सहानुभूति ही नहीं प्रकट करता, वह संघर्ष में भाग भी लेता है। और यह संघर्ष निष्क्रिय प्रतिरोध के मार्ग पर नहीं बढ़ता, उसका रास्ता सक्रिय प्रतिरोध का है। इससे स्पष्ट है कि प्रसादजी ने अपने साहित्य में पूँजीवादी नेताओं की कार्यनीति को आदर्श नहीं माना।"[10] डॉ. रामविलास शर्मा के दृष्टिकोण से देखा जाए तो प्रसाद के नाटकों में कलाकार के सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता का प्रमाण स्पष्ट रूप से उपस्थित है। जहाँ कहीं स्थान मिला वहाँ प्रसाद केवल भावनात्मक सहानुभूति भर सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने रचनात्मक अभिव्यक्ति दी। इसलिए उनकी रचनाएँ जिसमें नाटकों को भी रखा जा सकता है, वह वर्ग-संघर्ष की सामाजिक-आर्थिक जड़ों को उद्घाटित करती हैं और प्रतिरोध की नीतियाँ प्रस्तावित करती हैं। डॉ. शर्मा का तर्क है – कि प्रसाद निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं बल्कि सक्रिय प्रतिरोध के पथ पर अग्रसर हैं – इस पक्ष को दृढ़ करता है क्योंकि प्रसाद ने पूँजीवादी व्यवस्था की वैचारिक संरचनाओं की आलोचना कर, आमजन की सामूहिक चेतना को साहित्यिक स्पंदन दिया। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि प्रसाद का साहित्य केवल नैतिक सहानुभूति नहीं, बल्कि समाज परिवर्तन के लिए सामूहिक क्रियाशीलता का आग्रह है।

यथार्थवाद के युग में 'छायावाद' और 'स्वच्छंदतावाद' के नाम पर 'छायावादी दर्शन' को युग-चेतना से हीन कहकर लांछित भी किया जाता रहा है। किन्तु "सच्चाई यह है कि सम्पूर्ण प्रसाद-युगीन साहित्य अपने युग की आशा-आकांक्षाओं, स्वप्न-कल्पनाओं, अभाव-अतृप्तियों, संघर्ष-पलायनों तथा चिन्तन-दर्शन से सहज स्वाभाविक रूप से उद्भूत हुआ है। उसे वर्तमान से असम्बद्ध और समाज से विच्छिन्न करार देना उसे आकाशचारी अस्तित्व प्रदान करना है।"[11] ग़ौरतलब है कि प्रसाद ने ख़ुद ***'यथार्थवाद और छायावाद'*** शीर्षक से निबंध लिखकर इन सभी चिन्तनाओं का जोरदार खंडन किया है। इस संदर्भ में इस निबंध का पाठ विचारणीय है। इस निबंध में प्रसाद जी लिखते हैं, "यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न हो कर पीड़ित होने लगती है तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक

हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता । क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। किन्तु साहित्यकार न तो इतिहास-कर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतंत्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इस को दिखाते हुए भी उस में आदर्शवाद का सामञ्जस्य स्थिर करता है।"[12] यहाँ प्रसाद जी यथार्थवाद और आदर्शवाद के परस्पर सम्बन्ध को संतुलित रूप से रखते हैं और 'वेदना' को यथार्थवाद का मूल भाव मानते हैं। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि साहित्य समाज की टूटती सामूहिक चेतना को व्यक्त कर उसे दृश्यमान बनाता है और इतिहास की तरह समाज की सच्चाई का चित्रण करता है। परन्तु उनका इस बात पर भी विशेष बल है कि साहित्य में केवल तटस्थ वर्णन नहीं होता बल्कि वह वैचारिक और मानवीय संवेदनाओं के माध्यम से आदर्शों का सामञ्जस्य भी स्थापित करता है। इसलिए लेखक न तो केवल इतिहासकार होता है जो सिर्फ़ तथ्य दर्ज करे, न ही केवल धर्मोपदेशक जो आचरण थोपे। बल्कि वह दोनों की कमी को पूरा करते हुए जीवन की वास्तविकता में नैतिक और सौन्दर्यात्मक दिशा भी प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से प्रसाद का तर्क वस्तुवादी है क्योंकि वह समाज के यथार्थ को मान्यता देता है, पर साथ ही साहित्य की नैतिक शक्ति को नकारता भी नहीं। यही संतुलन साहित्य की गंभीरता का आधार है।

प्रसाद इसी निबंध में आगे लिखते हैं, "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से – जिस में वाह्य वर्णन की प्रधानता थी – इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा वाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है।"[13] यह प्रसाद जी का 'छायावादी दर्शन' है जिसमें वेदना की स्वानुभूत सत्य विद्यमान रहती है। उनके लिए यथार्थवाद का मूल भाव 'वेदना' और छायावाद का मूल दर्शन 'वेदना'। इसलिए छायावाद और यथार्थवाद के बीच का अन्तर सतही नहीं, बल्कि वेदना के आधार पर एक समांतर सम्बन्ध है। वेदना यहाँ अनुभव की आंतरिक सत्यता है, जो पारंपरिक रीतिकालीन कवित्व के बाह्य वर्णन से अलग, स्वानुभूति पर केन्द्रित है। यथार्थवाद का मूल भाव – जीवंत पीड़ा और जीवन की कठोरताओं की स्वीकार्यता – प्रसाद के अनुसार वेदना ही है, और छायावाद का दर्शन भी वेदना के ही परिप्रेक्ष्य से जन्मा है। परन्तु भौतिक यथार्थ का प्रत्यक्ष चित्रण करने के बजाय छायावादी कवि वेदना की सूक्ष्म, आंतरिक परतों को अपनी भाषा और रूप में व्यक्त करते हैं। यह 'वेदना' का भाव ही आगे चलकर यथार्थवादी 'विद्रोह' से सामंजस्य करता प्रतीत होता है। गोविन्द चातक ने बहुत ठीक लिखा है कि, "राजनैतिक सत्ता के प्रति विद्रोह का भाव छायावाद की व्यापक विद्रोही प्रकृति का अंग मात्र था। छायावाद ने प्राचीन रूढ़ियों, धार्मिक संकीर्णताओं, सामाजिक अन्यायों आदि के प्रति विद्रोह प्रकट कर व्यक्ति की सत्ता को मानवतावादी आधार पर एक नई चेतना दी। वस्तुतः छायावादी कवियों और लेखकों की स्वातंत्र्य भावना ने जीवन के सर्वांगीण क्षेत्रों में अपना विद्रोह प्रकट किया।"[14] इसलिए छायावादी नाट्य-दर्शन में यह विद्रोह सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध सत्ता-समर्थक व्यवस्थाओं की निन्दा बनकर उभरा। छायावादी नाटककार और कवि व्यक्ति की आत्मा और स्वतंत्रता को केंद्र में रखते हुए नाटकीय पात्रों में मानवीय संवेदना और बोध की गूँज लाए। उन्होंने नाटक में रहस्यमय, मानसिक और भावनात्मक संघर्षों के माध्यम से परंपरा, पाखण्ड और सामाजिक अन्याय को चुनौती दी। परिणामतः मंच पर प्रस्तुति ने दर्शक को केवल मनोरंजन नहीं दिया बल्कि व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना और समानता के सिद्धांतों के प्रति जागरूक किया। प्रसाद ने अतीत के आवरण में वर्तमान का जागरण गान किया है वह व्यक्ति की गरिमा, विवेक, प्रेम, स्वतंत्रता और मानवतावादी समानता का समर्थक है। जहाँ उनके नाटकों में राजनैतिक विद्रोह की बात आती है वह भी छायावादी नाट्य-दृष्टि के व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय विद्रोह का एक पक्ष था।

प्रसाद पर बौद्धों की करुणा का गहरा प्रभाव था, इसलिए उनके साहित्य में बौद्धों का सांस्कृतिक उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है। बौद्ध दर्शन का मूल आधार अहिंसा है, ***'अशोक की चिंता'*** में करुणा का यही भाव प्रसूत हुआ है। कलिंग युद्ध के बाद अशोक के हृदय में उत्पन्न हुई करुणा को प्रसाद ने न केवल ऐतिहासिक घटना के रूप में प्रस्तुत किया, बल्कि उसे नैतिक और दार्शनिक पुनरुत्थान के रूप में पिरोया। इस करुणा ने प्रसाद के पूरे साहित्य में उदारता, सहिष्णुता और विवेकशीलता जैसे गुणों को जन्म दिया। उनके नायक-नायिकाएँ और कथ्य अक्सर हिंसा के विरुद्ध मानवीय संवेदनाओं का पक्ष लेते हैं। प्रसाद के लिए यह अहिंसा केवल वैचारिक सिद्धांत नहीं रही, बल्कि भारतीय जन-संस्कृति में व्याप्त एक सार्वभौमिक मूल्य के रूप में समाहित हो गई थी, जिसे उन्होंने अपनी भाषा, रूपक और पात्र-निर्माण में प्रभावी रूप से प्रतिबिंबित किया। उनके करुणा-दर्शन का परिणाम भावुकता में कमी, सामाजिक विषयों पर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि और संघर्ष में मानवीय समाधान की तलाश के रूप में दिखता है। इसलिए प्रसाद का साहित्य बौद्ध-दर्शन के सम्प्रेषित आदर्शों का भारतीय सांस्कृतिक संदर्भ में जीता-जागता दस्तावेज़ है।

प्रसाद ने प्रेम और करुणा को लोक-जीवन के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित कर उन्हें मानव हृदय के विकास का साधन माना है। प्रेम को केवल वैयक्तिक भूमिका पर ही नहीं स्वीकार किया है, बल्कि उसे वैयक्तिकता की सीमा से ऊपर उठाकर व्यावहारिक जीवन की विस्तृत और उदात्त भूमिका पर स्थापित किया है, जिसमें वह केवल ऐकान्तिक और भौतिक न बन सके। इस करुणा मूलक प्रेम को उन्होंने मानवता का शिखर कहा है। प्रेम के अन्तरंग रूप को उन्होंने समृद्ध प्रेम माना है। उन्होंने प्रेम के इस स्वरूप को, जो मनुष्य के अन्तर को विकसित करता है तथा जो धर्म का विरोधी नहीं है, स्वीकार किया है। बौद्ध दर्शन के प्रेम को जो संसार के दृश्य पदार्थों तक ही सीमित नहीं है तथा संसार से पृथक व्यक्ति के वैराग्य का विरोधी है। इसलिए प्रेमावेश से उद्भूत करुणा को अपने नाटकों में उतारा है। यह अतिशय प्रेम केवल इस भौतिक दृश्य जगत तक ही सीमित नहीं है। इसकी व्यापकता स्थूल संसार का अतिक्रमण करती है, यह ज्ञान के प्रकाश का एक अंग है। स्त्री-पुरुष के प्रेम को उन्होंने चित्त-शक्ति का माध्यम माना है। ***'विशाख'*** नाटक में प्रेमानन्द का यह वाक्य "जब तक सुख भोग कर चित्त उनसे नहीं उपराम होता, मनुष्य पूर्ण वैराग्य नहीं पाता है। तुझे कर्मयोग के व्यावहारिक रूप ही का अनुकरण करना चाहिये। विश्व में मानव का यही धर्म है।"[15] इसलिए प्रसाद ने उस त्याग को, जो संसार की उपेक्षा करता है तथा सांसारिक संघर्षों से मुख मोड़ लेता है, उसे कहीं नहीं अपनाया। 'राग' जिसे बौद्ध दर्शन करुण की संज्ञा देता है, जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बद्ध है। वह भौतिक सफलता के साथ मानव हृदय के विकास का साधन होता है। प्रेम के इस पक्ष पर प्रसाद ने बहुत बल दिया है। ***'विशाख'*** में ही वे कहते हैं, "हृदय कमल जब विकसित होता है तब चेतना बराबर मकरन्द पान किया करती है जिसमें नशा टूटने न पावे। सत्कर्म हृदय को विमल बनाता है और हृदय में उच्च वृत्तियाँ स्थान पाने लगती हैं, इसलिए सत्कर्म कर्मयोग को आदर्श बनाना आत्मा की उन्नति का मार्ग स्वच्छ और प्रशस्त करना है।"[16] कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद ने वह त्याग, जो मानव जीवन की उपेक्षा करता है तथा सांसारिक संघर्षों से मुख मोड़ लेता है, कहीं नहीं अपनाया है। इसलिए सफल जीवन के निर्वाह के लिए वे प्रेम को आवश्यक तत्व मानते हैं। उच्छृंखल प्रेम मानव जीवन में सुख और शान्ति नहीं ला सकता। यह बन्धन-विहीन प्रेम जीवन को अव्यवस्थित और अशान्त कर देता है। एक ऐसे ही उन्मुक्त प्रेम का उपासक ***'एक घूँट'*** का आनन्द भी स्वीकार कर लेता है। उसे अपनी ही पूर्व धारणा पर सन्देह होने लगता है और उसे स्वीकारना पड़ता है कि – "मेरे कल्पित सन्देश में सत्य का कितना अंश था, उसे अलग झलका दिया। मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हूँ। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का मेल हो गया है।"[17] इस उच्छृंखल प्रेम को बाँधने के मूल में प्रसाद जी की यही ***'छायावादी दृष्टि'*** – जीवन के हर क्षेत्र में संतुलन बनाने और उसकी सफलता में कार्य करता है। जीवन का संतुलन और करुणा को मानो वे स्त्री और पुरुष के प्रतीक के रूप में देखते हैं, जिनके सम्मिलन से मानव जीवन सफल होता है। प्रसाद जी अपने उदात्त स्त्री और पुरुष पात्रों के प्रेम और करुणा के चित्रण द्वारा दुखी संसार को सुखमय की ओर संकेत करते रहते हैं। इसके लिए उन्होंने अपने नाटकों में प्रकृति के मधुर परिवेश में आत्म-भावनाओं को अभिव्यक्ति दी है, जो गद्य-गीत का-सा माधुर्य उत्पन्न करते हुए हृदयस्पर्शी बन पड़ा है, "बुला लो, बुला लो उस बसन्त को, उस जंगली बसन्त को जो महलों में मन को उदास कर देता है, जो सुखे हृदय की फूंक में मकरन्द सींचता है। उसे अपने हृदय में बुला लो, जो

पतझड़ करके नई कोंपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की भावुकता में उत्तेजित होकर इस भ्रांत जगत् में वास्तविक बात का स्मरण कर देता है, जो कोकिल के सदृश सस्नेह सक-रुण आवाहन करता है, जिसमें विश्व भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है, एक आकर्षण सब को कलेजे से लगाना चाहता है, उस बसन्त को, उस गई हुई निधि को लौटा लो। कांटो में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेलें। विश्वमात्र एक कुसुम स्तवक सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनन्द का रसीला राग गूंज उठे। विश्व भर का क्रन्दन कोकिल की काकिली में परिणत हो जाए।"[18] महज़ यह संयोग नहीं कि – यहाँ जीवन की मंगलाशा काव्यमय संगीत बनकर मुखरित हुई है। प्रसाद के नाटकों में ऐसे संवाद जितने नाटकीय होते हैं उतने ही संप्रेषणीय भी। इसलिए उनके नाटकों में गीत हैं, संगीत हैं – स्त्री, प्रकृति और प्रेम का सुन्दर त्रिक है।

प्रसाद जी का नाट्य-दर्शन स्त्री, प्रकृति और प्रेम के सुन्दर त्रिक के साथ कवित्व प्रतीकों का सुन्दर समागम है। इसलिए वे प्रतीकवादी नाट्य-दर्शन के विशिष्ट प्रवर्तक भी हैं। ***'कामना'*** के पात्र उनके मस्तिष्क की नयी उपज हैं, जिनकी प्रकृति, कार्य, विचार और भावना – सभी मानवीय हैं। वे न तो व्यक्ति विशेष के प्रतिनिधि हैं न उनमें महापुरुषत्व के लक्षण हैं बल्कि वे जीवन के सूक्ष्म अनुभूतियों के प्रतीक हैं। प्रतीकों का मानकीकरण भी प्राकृतिक तत्वों के इन क्रिया-कलापों से होता है – "ऊषा के अपांग में जागरण की लाली है। दक्षिण-पवन शुभ्र मेघमाला का अंचल हटाने लगा। पृथ्वी के प्रांगण में प्रभात टहल रहा है, क्या ही मधुर है; और संतोष भी मधुर है। विशाल जलराशि के शीतल अंक से लिपटकर आया हुआ पवन इस द्वीप के निवासियों को कोई दूसरा संदेश नहीं सुनाता, केवल शांति का निरंतर संगीत सुनाया करता है। सन्तोष ! हृदय के समीप होने पर भी दूर है, सुन्दर है, केवल आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है।"[19] नाटकों में कवित्वपूर्ण प्रतीकों के ऐसे अभ्यारण्य प्रसाद के नाटकों में भरे पड़े हैं। इसे ही नंददुलारे वाजपेयी ने प्रसाद के नाटकों में 'स्वच्छंदतावादी सौन्दर्य-चित्रण की विशेषता'[20] बतलाया है। उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि, "स्वतंत्र नाटककार की हैसियत से प्रसाद की पहली विशेषता है उनका काव्यत्त्व। उनका कवि-व्यक्तित्त्व उनकी सारी कृतियों में उपस्थित है। वाक्यावलियों में 'प्रसाद-शैली' कुछ ऐसी गहरी छाप से चिह्नित है कि भ्रम की संभावना ही नहीं रहती। उनके संवादों का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है, जो किसी अन्य नाटककार की कृति में नहीं मिलता। उनके चरित्रों की सृष्टि, विशेषकर उनका नायक प्रसादजी के कवि-जीवन के आदर्शों का प्रतिनिधि है। उनके नाटकों का साँचा काव्यात्मक है और इसलिए काव्यत्व प्रधान भाषा और गद्य-गीत शैली के संवादों की रचना उनके लिए साधारण वस्तु बन गई है।"[21] बेशक़, प्रसाद काव्यत्त्व न केवल भाषा-स्तर पर दिखाई देता है, बल्कि नाटकीय संरचना, संवाद और चरित्र-निर्माण में भी दिखलाई देता है। विशेष रूप से 'प्रसाद-शैली' नामक भाषिक गुण-समूह संवादों की मौलिकता और विशिष्टता बनाती है। यह शैली पाठक-दर्शक के लिए किसी अन्य नाटककार की रचनाओं के साथ मिश्रित भ्रम की संभावना को समाप्त कर देती है। नायक-चरित्र का निर्माण प्रसाद के कवि-आदर्शों का ही द्योतक है। इसलिए उनके नाट्यचरित्रों में व्यक्तिगत काव्यदृष्टि का सैद्धान्तिक और नीतिगत प्रतिबिम्ब मिलता है। नाटकों का फॉर्म काव्यात्मक होने के कारण गद्य-गीत मिश्रित संवाद उनकी रचनात्मक प्राथमिकता और तकनीकी महारत का परिणाम है।

निष्कर्ष

प्रसाद ने नाटक को केवल मनोरंजन अथवा मंचीय प्रदर्शन का माध्यम न मानकर इतिहास, संस्कृति, राष्ट्रीय चेतना, दर्शन और मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति का सशक्त साधन बनाया। उनके ऐतिहासिक नाटकों में अतीत का चित्रण वस्तुतः वर्तमान की समस्याओं, राष्ट्रीय आकांक्षाओं और सामाजिक संघर्षों को समझने का माध्यम है। 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे नाटकों में इतिहास के माध्यम से आत्मसम्मान, कर्मशीलता, संगठन और सक्रिय प्रतिरोध की चेतना व्यक्त हुई है।

प्रसाद का नाट्य-दर्शन भारतीय सांस्कृतिक परंपरा, बौद्ध करुणा, शैवागम, निष्काम कर्म और मानवतावादी जीवन-दृष्टि से निर्मित है। उनके लिए प्रेम और करुणा जीवन से पलायन के साधन नहीं, बल्कि व्यक्ति और समाज के विकास की सक्रिय शक्तियाँ हैं। उनकी छायावादी सौन्दर्य-चेतना बाह्य रूप-वर्णन के स्थान पर अंतर्मन की वेदना, स्वानुभूति, प्रकृति, प्रेम और आध्यात्मिक संवेदना को केंद्र में रखती है। इसी कारण उनके नाटकों में काव्यात्मक भाषा, गद्य-गीत,

प्रतीकात्मकता, भावात्मक संवाद और स्वच्छंद नाट्य-शैली का विशिष्ट समन्वय दिखाई देता है। प्रसाद ने परंपरा और आधुनिकता, इतिहास और वर्तमान, काव्य और रंगमंच तथा व्यक्ति और समाज के बीच सृजनात्मक संबंध स्थापित किया। उनका नाट्य-साहित्य आज भी मानवीय स्वतंत्रता, सामाजिक सक्रियता, सांस्कृतिक आत्मबोध और नैतिक जीवन-मूल्यों के कारण प्रासंगिक बना हुआ है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. गुलाबराय. *काव्य के रूप*. पृ.79; आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली; संस्करण: 1958.
2. गुप्त, सोमनाथ. *पारसी थियेटर : उद्भव और विकास*. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण:1981, पृ. 1.
3. प्रसाद, जयशंकर. *काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध*. भारती भंडार, इलाहाबाद; संस्करण: 1939, पृ. 110-11.
4. वाजपेयी, नन्ददुलारे. *जयशंकर प्रसाद*. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण: 2009, पृ. 117-18.
5. वाजपेयी, नन्ददुलारे. *नया साहित्य, नए प्रश्न*. विद्यामन्दिर प्रकाशन, वाराणसी; संस्करण: 1955, पृ. 12.
6. प्रसाद, जयशंकर. *काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध*; पृ. 143, पूर्वोद्धृत.
7. पालीवाल, रीतारानी. *जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश की रंग-दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन*. सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण: 2022, पृ.113.
8. शर्मा, डॉ. रामविलास. *परंपरा का मूल्यांकन*. राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण: 2004, पृ. 131.
9. वही, पूर्वोद्धृत; पृ. 137.
10. वही, पूर्वोद्धृत; पृ. 138.
11. चातक, गोविन्द. *प्रसाद : नाट्य और रंग-शिल्प*. आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली; संस्करण:1969. पृ. 11.
12. प्रसाद, जयशंकर. *काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध*. पृ.142; पूर्वोद्धृत.
13. वही, पूर्वोद्धृत; पृ.143.
14. चातक, गोविन्द. *प्रसाद : नाट्य और रंग-शिल्प*. पृ. 15; पूर्वोद्धृत.
15. प्रसाद, जयशंकर. *विशाख*. भारती भंडार, काशी; प्रथम संस्करण: 1929. पृ. 26. [अन्य संस्करणों में मैंने देखा कि इस उद्धरण का अंतिम वाक्य ***'विश्व में मानव का यही धर्म है'*** नहीं है। जबकि प्रथम संस्करण में यह वाक्य है जो इस उद्धरण को पूर्ण करती है।]
16. वही, पूर्वोद्धृत, पृ.27.
17. प्रसाद, जयशंकर. *एक घूँट*. भारती भंडार लीडर प्रेस, प्रयाग; संस्करण: 1947. पृ. 43.
18. प्रसाद, जयशंकर. *प्रसाद के सम्पूर्ण नाटक एवं एकांकी*. संपादक: डॉ. श्याम सिंह शशि; जनमेजय का नागयज्ञ; पृ. 332; दिल्ली पुस्तक सदन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 2017.
19. प्रसाद, जयशंकर. वही; पूर्वोद्धृत; पृ. 356.
20. वाजपेयी, नन्ददुलारे; जयशंकर प्रसाद; पृ. 129; पूर्वोद्धृत.
21. वही, पूर्वोद्धृत; पृ. 130.